चतुर्थोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अबोषध्यौ। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सादा खाना, पानी पीना

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्याꣳ सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥१॥

१. तृतीय अध्याय की समाप्ति पर 'नारायण' यज्ञात्मक कर्मों में लगा था। यह नारायण ही 'प्रजापति'=प्रजा का रक्षक बनता है और प्रार्थना करता है—१. हम **पृथिव्याः**=पृथिवी के **इदं देवयजनम्**=इस देवताओं के यज्ञ करने के भाव को (भावे ल्युट्) **आ अगन्म**=सर्वथा प्राप्त हों। प्रभु ने पृथिवी को देवयजनी बनाया है। हम इस पृथिवी पर आकर यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें, जिससे अपने देवत्व को न खो बैठें। २. **यत्र**=यह पृथिवी वह स्थान है जहाँ कि **विश्वे देवासः**=सब देववृत्ति के लोग **अजुषन्त**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) परस्पर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करते हैं। अथवा बड़े प्रेम से प्रभु का उपासन करते हैं। ३. यहाँ हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को **ऋक्सामाभ्याम्**=ऋचा व साम के द्वारा—विद्या व श्रद्धा से—**सन्तरन्तः**=तैरते=करते हुए, पार कर जाएँ, अर्थात् अपने प्रत्येक कार्य को सफल बनानेवाले हों। **'यदेव श्रद्धया क्रियते विद्यया तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** उपनिषद् यही कहती है कि जो काम श्रद्धा व विद्या से किया जाता है वही वीर्यवत्तर, शक्तिशाली होता है। ४. **यजुर्भिः**=यजुओं से—यजुर्वेद में वर्णित यज्ञिय उत्तम कर्मों से ही **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से हम **संमदेम**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करें। उत्तम मार्ग से धन कमाने का निश्चय होते ही संसार सुन्दर बन जाता है। ५. हम धनी बनकर भी **इषा**=अन्न से ही **मदेम**=आनन्दित हों। हम स्वाद को प्रधानता न दें। **उ**=और **इमाः आपः**=ये जल **मे**=मेरे लिए **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **देवीः**=ये तो दिव्य गुणों से परिपूर्ण हैं, अर्थात् मेरा खान-पान सादा हो। सच्ची बात यह है कि उत्तम जीवन का आधार यह खान-पान की सादगी ही है। ६. **ओषधे**=हे दोषों को दूर करने की शक्ति से परिपूर्ण ओषधे! **त्रायस्व**=तू मेरी रक्षा कर। **स्वधिते**=हे अपनी धारणशक्ति से युक्त ओषधे! **एनं मा हिंसी**=इस मुझे हिंसित मत कर। यह ओषधि-वनस्पतियों का सेवन हमारा रक्षण करे, केवल शरीर से नहीं, यह मन व मस्तिष्क को भी स्वस्थ बनाये।

भावार्थ—१. पृथिवी को हम यज्ञभूमि समझें। २. देव बनकर अपना कर्त्तव्य प्रेम से पूर्ण करें। ३. हमारे सब कार्य ज्ञान व श्रद्धा से किये जाएँ। ४. श्रेष्ठतम कर्मों से ही हम धन कमाएँ। ५. 'सादा खाना और पानी पीना' ही हमारे आनन्द का कारण बने। ओषधियाँ धारणशक्ति से युक्त हों, इनसे हम हिंसित न हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आपः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जल 'मुस्कराहट'

आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वꣳहि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳशग्मां परिदधे भद्रं वर्ण पुष्यन्॥२॥

प्रजापति ने गत मन्त्र में 'अन्न व जल' में ही आनन्द लेने का निश्चय किया। उनमें जल के महत्त्व को व्यक्त करते हुए प्रभु प्रजापति से प्रार्थना कराते हैं कि—१. **मातरः आपः**=हे मातृस्थानापन्न जल! माता के समान हित करनेवाले जल, हमारी प्राणशक्ति का निर्माण करनेवाले जल! (आपोमयाः प्राणाः) **अस्मान्**=हमें **शुन्धयन्तु**=शुद्ध कर डालें। २. ये **घृतप्वः**=(घृत+पू, घृ=क्षरण) मलों के क्षरण द्वारा पवित्र करनेवाले जल **नः**=हमें **घृतेन**=अपनी मलक्षरण शक्ति से **पुनन्तु**=पवित्र करनेवाले हों। प्रातःकाल पिया हुआ जल मलक्षरण में अद्भुत क्षमता रखता है। इसी से आयुर्वेद में प्रातः जलपान का अत्यधिक महत्त्व है। ३. **हि**=निश्चय से **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले जल **विश्वं रिप्रम्**=सम्पूर्ण मल को **प्रवहन्ति**=बहाकर ले-जाते हैं। इसीलिए **आभ्यः**=इन जलों के द्वारा **शुचिरा**=बाहर से पवित्र हुआ और **आपूतः**=अन्दर से समन्तात् पवित्र हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ। ४. अब अन्दर-बाहर से पवित्र होकर मैं कह सकता हूँ कि **दीक्षातपसोः**=व्रत-संग्रहण व तप का **तनूः असि**=शरीर तू है, अर्थात् यह शरीर व्रत-संग्रहण और तप के लिए मिला है। **'व्रातं जीवं सचेमहि'** में यही तो प्रार्थना थी कि हमारा जीवन व्रतमय हो। हम व्रती व तपस्वी हों। तप ही सब उत्थान का मूल है। तप का विलोम पतन है। ५. दीक्षा से—व्रत-ग्रहण से यह शरीर नीरोग होकर हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है और तप हमें अध्यात्म-दृष्टि से उच्च भूमि में ले-जाकर **शग्म**=शान्ति प्राप्त कराता है, जिस शान्ति की चरम सीमा निर्वाण व मोक्ष है **'शान्तिं निर्वाणपरमाम्'**, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तां त्वा**=उस तुझ तनू (शरीर) को जोकि **शिवां शग्माम्**=ऐहिक व आमुष्मिक सुख से युक्त है **परिदधे**=मैं धारण करता हूँ। ६. इस शरीर में न रोग हैं न अशान्ति। यहाँ स्वास्थ्य है और शान्ति है। वह स्वास्थ्य और शान्ति ही इस उपासक के चेहरे पर 'स्मित' (smile) के रूप में प्रकट होते हैं और मन्त्र का ऋषि प्रजापति कहता है कि मैं सदा **भद्रं वर्णं पुष्यन्**=भद्र वर्ण का पोषण किये रहता हूँ। मेरे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है जो अन्दर के मनःप्रसाद को व्यक्त करती है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणयुक्त हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर व मन को स्वस्थ बनाता है, परिणामतः हमारे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मेघः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मेघ=मेघस्थ जल

महीनां पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि॥३॥

१. पिछले मन्त्र में जल का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में सर्वोत्तम जल अर्थात् मेघस्थ जल का उल्लेख करते हैं। यह मेघ क्या है। **महीनाम्**=इन पृथिवियों का (पृथिवी-भागों

का) **पयः असि**=जल है। यह पृथिवीस्थ जल ही सूर्य किरणों व अन्य भौतिक कारणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर चला गया है। एवं, यह distilled water ही है। अत्यन्त शुद्ध व अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद। इसे देवताओं के मद्य के रूप में कहा गया है–'पिबेदमरवारुणीम्'। यह जल क्या है? यह तो **महीनां पयः असि**=गौवों का दूध है। इसमें इतनी शक्ति है जितनी गोदुग्ध में। **वर्चोदा**=यह वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चो मे देहि**=हे मेघजल! तू मुझे वर्चस् दे। 'वर्चस्' वह शक्ति है जो रोगों का मुक़ाबला करती है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह मनुष्य को स्वस्थ बनाती है। २. **'वृत्र'** शब्द आवरण का वाचक है। मेघ भी वृत्र है, क्योंकि सूर्य पर एक आवरण के रूप में आ जाता है। काम भी वृत्र है, क्योंकि वह ज्ञान का आवरक बनता है। इसी प्रकार आँख पर परदे के रूप में आ जानेवाला 'मोतियाबिन्द' (Catarect) भी वृत्र कहलाता है। ये मेघजल इस **वृत्रस्य**=आँख पर अँधेरे के रूप में आ जानेवाले मोतियाबिन्द को **कनीनकः असि**=फिर से चमका देनेवाला है (कन् to shine)। 'मेघजल का प्रयोग किस प्रकार कैटेरेक्ट को दूर करता है?' यह प्रश्न वैद्य से सम्मति लेकर सुलझाना चाहिए, परन्तु यह बात निश्चित है कि पीने के लिए मेघजल का ही प्रयोग करने पर इस रोग की आशंका ही न रहेगी। ३. हे मेघ ! तू मोतियाबिन्द को हटाकर **मे**=मुझे **चक्षुः**=फिर से दृष्टिशक्ति **देहि**=दे।

भावार्थ–मेघजल या distilled water के प्रयोग से निम्न लाभ होते हैं–१. यह गोदुग्ध के समान शक्ति को देनेवाला है। २. मोतियाबिन्द को नहीं होने देता। ३. दृष्टिशक्ति को बढ़ानेवाला है।

ऋषिः–प्रजापतिः। **देवता**–परमात्मा। **छन्दः**–निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**–पञ्चमः॥

कामनापूरक प्रभु

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥४॥

१. तृतीय मन्त्र में शरीर को पवित्र करके अब चतुर्थ मन्त्र में मानस पवित्रता के लिए प्रजापति ही प्रार्थना करते हैं कि **चित्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पवित्र करें। वस्तुतः ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ नहीं है। २. **वाक्पतिः**=वेदवाणी का पति **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे। प्रभु वेदवाणी के रूप में ही ज्ञान देते हैं। वेदवाणी का नियमित स्वाध्याय हमारे जीवनों को पवित्र कर देता है। ३. **मा**=मुझे **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित पवित्रीकरण के साधनभूत वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्यकिरणों से **पुनातु**=पवित्र करें। स्वच्छ वायु और सूर्यकिरणें शरीर व मानस स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। ४. वे प्रभु पवित्रीकरण के साधनभूत सब पदार्थों के स्वामी हैं। चाहे वह ज्ञान है चाहे वायु व सूर्यकिरणें–सभी के स्वामी प्रभु हैं। **हे पवित्रपते**=सब पवित्र करनेवाले पदार्थों के स्वामिन्! **तस्य ते**=उन आपके **पवित्रपूतस्य**=पवित्रीकरण-साधनों से पवित्र करनेवाले आपके प्रति **यत्कामः**=जिस कामनावाला होकर **पुने**=मैं अपने को पवित्र बनाता हूँ, **तत् शकेयम्**=उस कामना को प्राप्त करने में समर्थ होऊँ।

भावार्थ–मैं ज्ञान प्राप्त करूँ, वेदवाणी का स्वाध्याय करूँ। स्वच्छ वायु व सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहूँ। पवित्रीकरण के सब साधनों से अपने को पवित्र बनाकर मैं जो कामना

करूँ, मेरी वह कामना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञिय आशीः=पवित्र कामना

आ वो॑ देवासऽईमहे वा॒मं प्र॑यत्य॒ध्व॒रे।

आ वो॑ देवासऽआ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे॥५॥

गत मन्त्र में शब्द था 'यत्कामः'=जिस कामनावाला। प्रस्तुत मन्त्र में उसी कामना को स्पष्ट करते हैं। हमारी कामनाएँ अच्छी ही हों। १. हे **देवासः**=देवो! हम **वः**=आपकी **ईमहे**=कामना करते हैं। हमारी कामना यह है कि हमें देवों की प्राप्ति हो। हमारा यह शरीर देवों का निवासस्थान बने। २. **प्रयति अध्वरे** =इस चलते हुए जीवन-यज्ञ में (प्र+इ=गतौ) हम **वामम्**=सौन्दर्य को ही **ईमहे**=चाहते हैं। हमारे मन सुन्दर और दिव्य गुणों की ही कामना करनेवाले हों। ३. **देवासः**=हे देवो! हम **वः**=आपसे **यज्ञियासः आशिषः**=पवित्र, यज्ञिय—श्रेष्ठ इच्छाओं की **आ हवामहे**=प्रार्थना करते हैं। यज्ञिय इच्छाएँ वही हैं जिनमें मनुष्य बड़ों का आदर करता है, सबके साथ मिलकर चलता है और लोकहित के लिए दान अवश्य देता है। जब हम अपने जीवनों को पवित्र बनाते हैं तब हमारी ये इच्छाएँ अवश्य ही पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ ये हों—१. हम देवताओं के निवासस्थान बनें। २. हम अपने इस जीवन को अध्वर=अहिंसात्मक यज्ञ का रूप दें और इस जीवनयज्ञ में सुन्दर-ही-सुन्दर गुणों को धारण करनेवाले बनें। ३. हम यज्ञिय इच्छाओंवाले हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञ क्यों?

स्वाहा॑ य॒ज्ञं मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षात्।

स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ꣳस्वाहा॒ वाता॒दार॑भे॒ स्वाहा॑॥६॥

गत मन्त्र में 'यज्ञिय इच्छाओं' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ के लाभों का उल्लेख करते हैं। १. **स्वाहा** =(स्व+हा=त्याग) स्वार्थ-त्यागरूप **यज्ञम्**=यज्ञ को **मनसः**=मन के हेतु से **आरभे**=मैं आरम्भ करता हूँ। 'यज्ञ से मन पवित्र बनता है', इसलिए मैं यज्ञ करता हूँ। मन की मैल स्वार्थ (selfishness) ही तो है। यज्ञ से हमारे मन में केवल अपने-आप खाने की वृत्ति का अन्त हो जाता है। २. **स्वाहा** (यज्ञम्) (सु+हा)=उत्तम औषध द्रव्यों की जिसमें आहुति दी जाती है, ऐसे इस यज्ञ को **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल अन्तरिक्ष के हेतु से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। यज्ञ में डाले गये औषधद्रव्य व घृत छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर सारे अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं, और यह सारा अन्तरिक्ष बड़ा पवित्र व सुगन्धमय हो जाता है। ३. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **द्यावा-पृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक के सभी प्राणियों के हित के दृष्टिकोण से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। अन्तरिक्ष में फैले हुए औषधद्रव्यों व धूल के कणों को श्वासवायु के साथ सभी प्राणी अपने अन्दर लेते हैं और सभी को नीरोगता व शक्ति का लाभ होता है। एवं, सम्पूर्ण द्यावापृथिवी का इस यज्ञ से हित होता है। ४. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **वातात्**=वायु के उद्देश्य से **आरभे**=आरम्भ करता हूँ। इस यज्ञ

को करने में मेरा उद्देश्य यह है कि सारी वायु शुद्ध हो जाए। एवं, इस यज्ञ के करने में प्रजापति का उद्देश्य यह है कि जहाँ उसका मन स्वार्थ से ऊपर उठेगा वहाँ सारा अन्तरिक्ष औषधगुणों व घृतकणों से भर जाएगा। सारे प्राणियों का हित होगा और वायुशुद्धि होकर रोगों का भय न होगा।

भावार्थ—हमारे मनों को, इस विशाल अन्तरिक्ष को, द्युलोक से लेकर पृथिवी तक रहनेवाले सभी प्राणियों को व वायु को शुद्ध करनेवाला यह यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्न्यब्बृहस्पतयः। **छन्दः**—पङ्क्तिः[क], आर्षीबृहती[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], मध्यमः[ख]॥

उन्नति के अष्टस्तम्भ

[क]आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। [ख]आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽ उरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥७॥

पिछले मन्त्र में 'यज्ञात्मक उत्तम इच्छा' का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं उत्तम इच्छाओं के करनेवाले प्रगतिशील (अग्नि) जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

१. **आकूत्यै**=सङ्कल्पात्मा **प्रयुजे**=सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय जीवन उसी का है जिसका जीवन सङ्कल्पमय है। 'यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः' सब उत्तम कर्म सङ्कल्पों का ही परिणाम हैं, परन्तु उन सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणत करनेवाला 'प्रयुक्' ही प्रशस्त है। 'सङ्कल्प करना और उसे क्रियान्वित करना' ही प्रशंसनीय है। २. **मेधायै**=धारणावती बुद्धि के पुञ्जभूत (embodiment) **मनसे**=मननशील **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय वही है जो धारणावती बुद्धिवाला है और इस धारणावती बुद्धि के विकास के लिए मननशील बनता है। 'मनन' मेधा का जनक है। ३. **दीक्षायै**=व्रत-संग्रह के लिए और **तपसे**=तप के लिए, दीक्षा और तप के द्वारा **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द कहे जाते हैं। जो व्यक्ति उन्नत होना चाहता है उसे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। व्रती जीवन ही जीवन है। व्रतपूर्ति के लिए तप की आवश्यकता है। तप की न्यूनता हमारे व्रतों के भङ्ग का कारण बनती है और व्रतभङ्ग का अभिप्राय है उन्नति का न होना। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञान के अधिदेवता के लिए और साथ ही **पूष्णे**=पोषण के देवता के लिए और इस प्रकार ज्ञान और पोषण की देवताओं का आराधन करके **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द प्रस्तुत होते हैं। उत्तम जीवन वही है जिसमें ज्ञान और शरीर की दृढ़ता व शक्ति का समन्वय हुआ है। ५. एवं, **अग्नि**=प्रगतिशील जीव में आठ बातें हैं जोकि दो-दो ग्रुप में होकर ऊपर चार वाक्यों में कही गई हैं। (क) सङ्कल्प तथा सङ्कल्प को क्रियान्वित करना, (ख) धारणावती बुद्धि का सम्पादन और उसके लिए मनन, (ग) व्रतग्रहण और व्रतपूर्ति के लिए तप (घ) विद्या व शक्ति का समन्वय। इन आठ बातों के होने पर ही व्यक्ति 'अग्नि' बन पाता है।

६. यह अग्नि (जीव) कहता है कि **आपः**=जल **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले हैं **बृहतीः**=हमारी वृद्धि के कारणभूत हैं **विश्वशंभुवः**=सब रोगों को शान्त करनेवाले हैं और इन जलों के अतिरिक्त **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरो अन्तरिक्ष**=विशाल अन्तरिक्षलोक के अधिष्ठाता **बृहस्पतये**=(बृहतामाकाशदीनां पतिः) बृहस्पति नाम से प्रसिद्ध प्रभु के लिए

हम **हविषा**=हवि के द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं। **स्वाहा**=यह अत्यन्त सुन्दर वेदवाणी है। सब लोकों की पवित्रता के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञों में विविध हविर्द्रव्यों का प्रक्षेप होता है। प्रभु की पूजा भी हवि से ही होती है—(हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' यही प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**, इस आदेश का पालन ही प्रभु-पूजन हो जाता है। यह औरों के हित के द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाला ही सच्चा 'प्रजापति' है। यही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—उन्नति के लिए हम सङ्कल्पादि आठों साधनों की साधना करें। हवि द्वारा सब लोकों को पवित्र करें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्रष्टा व सृष्टि, God *vs* Mammon

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रजापति' का उल्लेख है। प्रजापति वही बन सकता है जो संसार के प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला 'आत्रेय' होता है। यह काम-क्रोध-लोभ तीनों से रहित होता है। इन आत्रेयों से प्रभु कहते हैं कि २. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट प्रत्येक मनुष्य **नेतुः** =संसार-चक्र के सञ्चालक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरण करे, चाहे। प्रभु की इस मित्रता ने ही उसे इस प्रलोभनमय संसार में फँसने से बचाना है। प्रभु की मित्रता ही उसे वह शक्ति प्राप्त कराती है जो उसे 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों का संहार करने में समर्थ करती है। एवं, प्रभु की मित्रता उसे 'आत्रेय' बनाती है। ३. सामान्यतः संसार की स्थिति इससे भिन्न है। **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=माँगता है, चाहता है। धन की उपासना अधिक है प्रभु की कम। वस्तुतः **'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'**=इस स्वर्णमय संसार के पदार्थों से सत्यस्वरूप परमात्मा का रूप ढका हुआ है। धन अधिक आकर्षक है। संसार में धन की ही महिमा दिखती है, अतः धन की ओर झुकाव स्वाभाविक है, परन्तु इसकी ओर झुककर मनुष्य अन्ततः इसका दास बन जाता है। धन का दास बना और फिर मनुष्य निधन=मृत्यु की ओर ही बढ़ता है, अतः हमें प्रभु का ही वरण करना चाहिए, धन का नहीं। ४. परन्तु धन के बिना खाना-पीना भी सम्भव नहीं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **द्युम्नम्**=(Wealth) धन का **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतने ही धन का जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। इतना धन तो हाथ-पैर हिलानेवाले को प्रभुकृपा से प्राप्त हो ही जाता है। एवं, प्रभु का वरण ही ठीक है। धन का वरण मनुष्य को विलासी बना देता है। दूसरी ओर स्रष्टा के वरण में जहाँ मोक्ष मिलता है वहाँ जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सृष्टि का अंश भी मिलता है।

भावार्थ—हम धन का वरण न करके प्रभु का वरण करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'ऋक्साम के शिल्पी'

ऋ॒क्सा॒मयो॒ः शिल्पे॑ स्थस्ते वा॒मार॑भे ते मा॑ पात॒मास्य य॒ज्ञस्योदृ॑चः।
शर्मा॑सि॒ शर्म॑ मे यच्छ॒ नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः॥९॥

१. पिछले मन्त्र के 'आत्रेय' जब गृहस्थ में प्रवेश करते हैं तो आसक्तिवाला जीवन न होने के कारण वे **'आङ्गिरस'**=शक्तिशाली बने रहते हैं। प्रभु इनसे कहते हैं कि तुम **ऋक्सामयोः**=विज्ञान व उपासना दोनों के **शिल्पे**=(शिल्पं कर्म–नि० २।१) निर्माण करनेवाले हो। तुम्हारा जीवन विज्ञान व उपासना से परिपूर्ण होता है। ये पति–पत्नी अलग–अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **ते वाम्**=उन दोनों को **आरभे**=मैं अपने जीवन में ग्रहण करना आरम्भ करता हूँ, अर्थात् ज्ञान–प्राप्ति के लिए मैं स्वाध्याय को अपनाता हूँ और उपासना के लिए ध्यान को–सन्ध्या को। **ते**=वे विज्ञान और उपासना **मा**=मेरे **अस्य यज्ञस्य**=इस यज्ञ की **उदृचः**=अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन–पथ के अन्त तक, (up to the end of life) **पातम्**=रक्षा करें, अर्थात् ये विज्ञान और उपासना जीवन के अन्तिम दिन तक मुझे वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। २. इस प्रकार जीवन–पथ में वासना से बचकर यह सचमुच 'आङ्गिरस' बन जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **शर्म असि**=आप अत्यन्त आनन्दमय हो, आनन्दरूप हो। **शर्म मे यच्छ**=अपने उपासक मुझे भी आनन्द प्राप्त कराइए। **नमः ते अस्तु**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **मा मा हिंसीः**= आप मुझे नष्ट मत कीजिए। विलास में फँसने से बचाकर मुझे हिंसित होने से बचाइए।

भावार्थ–मेरा जीवन ऋक्साममय हो। मेरा जीवन विद्या व श्रद्धा पर आधारित हो। मैं आनन्दमय प्रभु का उपासक बनूँ और सचमुच आनन्द का भागी होऊँ।

ऋषिः–आङ्गिरसः। **देवता**–यज्ञः। **छन्दः**–निचृदार्षीजगती[क], साम्नीत्रिष्टुप्[ख]। **स्वरः**–निषादः[क], धैवतः[ख]॥

ज्ञान व श्रद्धापूर्वक क्रियमाण यज्ञ

[क]ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदाऽऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि। [ख]उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहसऽआस्य यज्ञस्योदृचः॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में ऋक् और साम के–विज्ञान व श्रद्धा के शिल्पी बनने का उल्लेख था। विज्ञान व श्रद्धा से की जानेवाली यज्ञरूप क्रिया का प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन है। विज्ञान व श्रद्धा का सम्पादन करके यह यज्ञ में प्रवृत्त होता है और कहता है कि हे यज्ञ! तू **ऊर्क् असि**=मेरे जीवन में बल व प्राण का सञ्चार करनेवाला है। यज्ञियवृत्ति विलास की विरोधिनी वृत्ति है और मनुष्य को विलास से ऊपर उठाकर बल व प्राणशक्ति से परिपूर्ण करती है। **आङ्गिरसी**=तू मेरे अङ्ग–प्रत्यङ्ग को रसमय कर डालती है। **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण् आच्छादने, मृद् to crush) तू मुझे असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करनेवाली है और मेरे काम–क्रोधादि शत्रुओं को कुचल डालनेवाली है। **ऊर्जं मयि धेहि**=तू मुझमें बल व शक्ति का आधान कर। २. हे यज्ञ! तू **सोमस्य**=सोम की **नीविः**=ग्रन्थि **असि**=है, सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित रखनेवाली है। यज्ञ की भावना के साथ विलास की भावनाएँ रहती ही नहीं, अतः मनुष्य की यज्ञ की भावना शरीर में इन सोमकणों के बन्धन का कारण बनती है और **विष्णोः शर्म असि**=तू उस व्यापक परमात्मा के आनन्द को देनेवाली है। यज्ञिय पुरुष का स्नेह व्यापक हो जाता है। इसे सबमें प्रभु का दर्शन होता है और यह उस व्यापक प्रभु की प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करता है। सोम=वीर्य की रक्षा इस सोम=प्रभु के दर्शन का कारण है ही। ३. **यजमानस्य शर्म**=यजमान के सुख का हेतु यह यज्ञ **इन्द्रस्य**

योनिः असि=परमात्मा की योनि है, उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् इन यज्ञों में ही प्रभु का दर्शन होता है। ४. यह यज्ञ जहाँ प्रभु का दर्शन करानेवाला होता है वहाँ **सुसस्याः**=उत्तम अन्नोंवाली **कृषीः**=खेतियों को **कृधि** =करता है। यज्ञों से सूक्ष्मकणों में विभक्त हुए-हुए घृत व औषधद्रव्य होनेवाली वृष्टि की बूँदों के कण बनते हैं और इनसे उत्पन्न सस्य के एक-एक कण के केन्द्र में घृत होता है। ५. हे **वनस्पते**=(वन सम्भक्तौ) सम्भजनीय-सेवनीय उत्तम अन्नादि के रक्षक यज्ञ! तू **उच्छ्रयस्व** =मेरे जीवन में उन्नत स्थान में स्थित हो। **ऊर्ध्वः**=उच्च स्थान में स्थित हुआ तू **मा** =मुझे **अंहसः**=पापों व कष्टों से **पाहि**=बचा। **अस्य यज्ञस्य**=इस जीवन-यज्ञ की **उदृचः**=(उत् out) अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन-यज्ञ की समाप्ति तक प्रभुकृपा से मेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। मेरे जीवन में यज्ञ को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हो।

भावार्थ—'यज्ञिय भावना' आसुर भावनाओं को नष्ट करके हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाती है, सोमकणों की रक्षा के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाती है, हमारी कृषियों को उत्तम अन्नवाला भी ये यज्ञ ही बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[ख]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[ख]॥

दिव्य-धी-मनन (दिव्य बुद्धि की याचना)

[क]व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳसुतीर्था नोऽअसद्वशे। [ख]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥११॥

१. हे मनुष्यो! **व्रतं कृणुत**=गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ का तुम व्रत लो। **व्रतं कृणुत**= अवश्य व्रत लो। **ब्रह्म अग्निः**= प्रभु तुम्हें आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु की उपासना मनुष्य की उन्नति का कारण होती है। **अग्निः यज्ञः**=यह यज्ञ अग्रेणी है, हमारी उन्नति का कारण है। प्रभु की उपासना 'ब्रह्मयज्ञ' है। अग्नि के अन्दर घृतादि पदार्थों की आहुति देना 'देवयज्ञ' है। २. इन यज्ञों की वृत्ति को अपने अन्दर जगाने के लिए यह आवश्यक है कि हम ध्यान रक्खें कि **वनस्पतिः**=वनस्पति ही **यज्ञियः**=यज्ञ के योग्य बनानेवाली है। मांसभोजन से अयज्ञिय वृत्ति उत्पन्न होती है। हम सात्त्विक भोजनों के द्वारा **दैवीं धियम्**=दैवी सम्पत्ति का वर्धन करनेवाली बुद्धि को **मनामहे**=माँगते हैं (मनामहे=याचामहे—द०) जो 'दैवी धी' **सुमृडीकाम्**=उत्तम सुखों को देनेवाली है। **अभिष्टये**=यह 'दैवी धी' ही सब इष्टों की प्राप्ति के लिए है। देव यज्ञशील हैं, यह यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। **वर्चोधाम्**=यह 'दैवी धी' हमें अपवित्र भोगमार्ग से बचाती है और हममें वर्चस् का, शक्ति का स्थापन करती है। **यज्ञवाहसम्**='दैवी धी' यज्ञों को प्राप्त करानेवाली है और इस प्रकार यह **सुतीर्था**=उत्तम तीर्थ है। बड़ी उत्तमता से भवसागर से तरानेवाली है। यह 'दैवी धी' ही **नः**=हमारी **वशे** =इच्छा में **असत्**=रहे, अर्थात् हम सदा इस दिव्य बुद्धि की कामना करें। ३. इस दिव्य बुद्धि की प्राप्ति के लिए **ये**=जो **देवाः**=देव **मनोजाताः**=(मनसा विज्ञाने च जायन्ते—द०) ज्ञान से विकास को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् स्वयं विकसित ज्ञानवाले हैं और **मनोयुजः**=(विज्ञाने योजयन्ति—द०) औरों को भी ज्ञान से युक्त करते हैं, **दक्षक्रतवः**=शरीर व आत्मा के बल (दक्ष) तथा प्रज्ञा व यज्ञ (क्रतु) से युक्त हैं **ते**=वे देव **नः**=हमें **अवन्तु** =रक्षित करें। हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। **ते नः**

पान्तु=वे हमें रोगों से भी बचाएँ। अपने 'क्रतु' द्वारा यदि वे हमें वासनाओं से बचाते हैं तो 'दक्ष' द्वारा वे हमें रोगों से सुरक्षित करते हैं। **तेभ्यः स्वाहा**=इन देवों के लिए हम अपना समर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञ का व्रत धारण करें। यह दिव्य बुद्धि हमें भवसागर से तराएगी। देवता हमें शरीर के रोगों से बचाते हैं तो मानस मलों को भी दूर करते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जल व स्वास्थ्य

श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः॥१२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति शरीर व मन के स्वास्थ्य पर हुई है। शरीर में रोग न हों तो मन में क्रोधादि न हों। इस सारे कार्य में जलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः जलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **आपः**=जलो! **यूयम्**=तुम **पीताः**=पिये हुए **श्वात्राः**=(शिव, त्रा) वृद्धि व रक्षा का कारण होओ। **अस्माकम्**=हमारे **उदरे अन्तः**=उदरों के अन्दर **सुशेवाः**=उत्तम सुखदायक व कल्याणकारी होओ। शरीर पञ्चभौतिक है, अतः पाँचों भूतों की अनुकूलता आवश्यक है, परन्तु 'आकाश, अग्नि व पृथिवी' का सर्वत्र विशेष अन्तर न होने से कहते यही हैं कि 'यहाँ का जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं।' जल और वायु में भी जल का महत्त्व स्पष्ट है, क्योंकि कहने का प्रकार यह होता है कि 'यहाँ का तो पानी ही ऐसा है'। एवं, पेयजल ठीक प्रकार से उपयुक्त होकर हमारी वृद्धि व रोग से रक्षा का कारण बनें। २. **ताः**=वे जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अयक्ष्माः**=किसी प्रकार के यक्ष्मादि रोगों के कृमियोंवाले होकर यक्ष्म-जनक न हों। **अनमीवाः**=अन्य सब प्रकार के रोगकृमियों से रहित हों। **अनागसः**=ये हमारे चित्तों को शान्त करके हमें अगस्—पापों से शून्य बनाएँ। क्रुद्ध मनुष्य को इसीलिए ठण्डा जल पिलाने की परिपाटी है। जलों का ठीक प्रयोग हमें 'शान्तमनस्क' करता है। ३. हे प्रभो! आपकी ऐसी कृपा हो कि **'स्वदन्तु'**=ये जल हमारे लिए स्वादवाले व रुचिकर हों। **देवीः**=ये जल दिव्य गुणोंवाले हैं, **अमृताः**=ये हमें रोगों से बचाकर असमय की मृत्यु से बचानेवाले हैं। **ऋतावृधः**=ये हमारे अन्दर ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। (ऋतस्य=यज्ञस्य—नि० ४।१९)। ये जल हमारे मनों को भी पवित्र करके उनमें यज्ञिय भावना को जगानेवाले हैं।

भावार्थ—जलों का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये शरीर को नीरोग करते हैं और मन में यज्ञिय भावना को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वीर्यरक्षा='ब्रह्मचर्य'

इयं ते यज्ञिया तनूरप मुञ्चामि न प्रजाम्।
अयोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव॥१३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर है कि ये जल हममें यज्ञिय भावना की वृद्धि करनेवाले होते हैं। इस यज्ञिय भावनावाले आङ्गिरस से प्रभु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **इयम्**=यह **ते तनूः**=तेरा शरीर **यज्ञिया**=यज्ञिय है। तू इसे अयज्ञिय=अपवित्र, भोगभावना

प्रधान न बना देना। तू निश्चय कर कि मैं **अपः**=शरीर से मलों को दूर करनेवाले जलों को लघुशंका द्वारा **मुञ्चामि**=छोड़ता हूँ, **न प्रजाम्**=सन्तान के साधनभूत वीर्य को नहीं छोड़ता, क्षणिक आनन्द के लिए उसका नाश नहीं होने देता। २. ये वीर्यकण तो **अंहोमुचः**=सब प्रकार के पापों व कष्टों से बचानेवाले हैं। इनके शरीर में सुरक्षित होने पर न पापवृत्ति उद्बुद्ध होती है और न ही रोगादि का कष्ट होता है। **स्वाहाकृताः**=ये यज्ञ के उद्देश्य से ही उत्पन्न किये गये हैं। 'स्वाहा अग्नि की पत्नी है, यज्ञशक्ति है (created for the sacrifice)। इनकी रक्षा में ही यज्ञियवृत्ति की रक्षा है। ३. इसलिए हे जीव! तू ऐसा निश्चय कर कि तूने इन सोमकणों की अवश्य रक्षा करनी है। तू इन्हें सम्बोधन करके कह कि **पृथिवीम् आविशत**=तुम इस शरीर में प्रवेश करो। इसी में तुम्हारा व्यापन हो। हाँ, **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर से निकलकर हे सोम! तू **सम्भव**=सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—आङ्गिरस ऋषि वीर्य के दो प्रयोजन समझता है। (क) शरीर में व्याप्त होकर उसे शारीरिक व मानस रोगों से बचाना तथा (ख) उचित योनि में निक्षिप्त होकर सन्तान को जन्म देना।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

मैं सानन्द सोऊँ—प्रभु जागें

अग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥१४॥

१. गत मन्त्र में आङ्गिरस ने निश्चय किया कि 'पृथिवीम् आविशत' हे सोमकणो! तुम मेरे शरीर में ही व्याप्त होओ। दिन में तो यह आङ्गिरस अपने निश्चय को अपने संकल्पबल व प्रयत्न से कार्यरूप में ले-आता है। रात्रि में भी वह अपनी शक्ति की रक्षा कर सके, अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वं सुजागृहि**=आप उत्तमता से खूब जागरित रहिए। **वयम्**=हम आपकी बनाई हुई इस शरीर की व्यवस्था के अनुसार, **सुमन्दिषीमहि**=दिनभर के श्रम के बाद आनन्दपूर्वक (सु) सोते हैं। हम जब इस रमयित्री रात्रि में निन्द्रा का आनन्द लें, उस समय आप जागरित हों, अर्थात् सोते समय भी मेरी प्रसुप्त चेतना में आपकी भावना जागरित रहे। हे प्रभो! **अप्रयुच्छन्**=सब प्रकार के प्रमाद से रहित होकर **नः रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, अर्थात् हमारी निद्रा का भी कोई क्षण इस प्रकार के प्रमादवाला न हो जाए कि हम अपनी शक्ति को नष्ट कर बैठें। ३. निद्रा की समाप्ति पर आप **नः**=हमें **पुनः**=फिर **प्रबुधे**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **कृधि**=कीजिए। रात्रि में स्वप्न में भी हम आपका ही स्मरण व दर्शन करें और दिन तो हमारा ज्ञानवृद्धि में बीते ही।

भावार्थ—रात्रि में हम प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, स्वप्न में भी हमें प्रभु-दर्शन ही हो। हम दिन को ज्ञानप्राप्ति में विनियुक्त करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

जागने पर

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः
श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार सारी रात्रि प्रभु-रक्षण में आनन्दपूर्वक सोकर आङ्गिरस जागता है और प्रार्थना करता है कि मुझे **पुनः**=फिर **मनः**=विज्ञानसाधक मन प्राप्त हो। **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **आयुः**=क्रियामय जीवन (इ गतौ) **आगन्**=प्राप्त हो। २. **पुनः**=फिर से **प्राणः**=शरीर-शक्ति प्राप्त हो और इस प्राण के द्वारा **पुनः**=फिर से **मे**=मुझे **आत्मा**=(सर्वत्र अतति) सर्वान्तर्यामी परमात्मा **आगन्**=प्राप्त हो। प्राण तो आत्मा को प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा हमें 'स्वरूप' में स्थित करती है। ३. **पुनः चक्षुः**=फिर से मुझे दृष्टिशक्ति प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति **आगन्**=प्राप्त हो। ४. मेरी सब-की-सब इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनें इसके लिए आवश्यक है कि **वैश्वानरः**=सबके शरीरों का नेता जाठराग्नि—शरीरों को स्वस्थ रखनेवाली पाचनशक्ति **अदब्धः**=अहिंसित होती हुई **तनूपाः**=शरीर की रक्षा करनेवाली **अग्निः**=जाठराग्नि **नः**=हमें **दुरितात्**=दुर्गति से तथा **अवद्यात्**=पापों से **पातु**=बचाए। (अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते—श० १४।८।१०।१) जाठराग्नि के ठीक होने पर जहाँ शरीर में रोग नहीं आते वहाँ मनों में खिझ व क्रोध आदि भी उत्पन्न नहीं होते। मन्दाग्निवाला पुरुष मन्द प्रेमवाला व तीव्र द्वेष व क्रोधवाला होता है। इस प्रकार यह वैश्वानर अग्नि हमें शरीर व मन दोनों दृष्टिकोणों से स्वस्थ बनाती है। प्रभु भी 'वैश्वानर' हैं। प्रभु का स्मरण भी हमें दुरितों व अघों से बचानेवाला है।

भावार्थ—आङ्गिरस प्रतिदिन जीवन को सुन्दर बनाने का संकल्प करता है। प्रतिदिन का नया निश्चय उसे दुरितों व पापों में फँसने से बचानेवाला होता है। यह अपनी वैश्वानर अग्नि को ठीक रखता है और शरीर व मन के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

नोट—आङ्गिरस 'इन बातों को कहता ही हो' ऐसा नहीं। वह इन्हें क्रियारूप में लाने का प्रयत्न भी करता है। उसका जीवन भी इन बातों को कहता है—इस कहने के कारण ही (वदति इति वत्सः) वह 'वत्स' ऋषि हो जाता है और प्रभु का प्रिय बनता है। अगले मन्त्रों का ऋषि यह वत्स ही है। अब वत्स की प्रार्थना देखिए—

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पा

त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः।
रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥१६॥

१. 'वत्स' अपने व्रतों का पालन करता है, परन्तु उन व्रतों के पालन की सफलता का गर्व नहीं करता। वह कहता है—हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **व्रतपा असि**=मेरे व्रतों के पालन करनेवाले हो। मेरी शक्ति से तो इन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं है। २. **आ**=चारों ओर **मर्त्येषु**=मनुष्यों के जीवनों में **आ देवः**=(आ=अभितः) सांसारिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में आप ही प्रकाशक हैं। सूर्यादि के द्वारा आप बहिःप्रकाश को प्राप्त कराते हैं तो वेदज्ञान द्वारा आप अन्दर का प्रकाश देनेवाले हैं। ३. इन प्रकाशों को प्राप्त करके मनुष्य शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है, परन्तु **यज्ञेषु**=उन यज्ञों में भी तो **त्वम्**=आप ही **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हो। ४. हे प्रभो! **इयत् रास्व**=आप हमें इतना धन दीजिए कि हम इन यज्ञों को अच्छी प्रकार करने में समर्थ हों और साथ ही **सोम**=हे ऐश्वर्यप्रद प्रभो! **भूयः**=अधिक धन भी **आभर**=सभी ओर से दीजिए। उन अधिक धनों से ही तो हम

विविध यज्ञों को कर सकेंगे। ५. वस्तुतः यह **सविता देवः**=प्रेरक देव ही **नः**=हमें **वसोः**=यज्ञ का—यज्ञिय भावना का **दाता**=देनेवाला है और उसी ने **वसु** =धन **अदात्**=दिया है। इस धन से हम उन यज्ञों को कर पाएँगे। (यहाँ 'वसु' पुल्लिङ्ग में यज्ञ का वाचक है और नपुंसक में धन का)। प्रभु यज्ञिय भावना भी देते हैं और उन्हें कार्यरूप में लाने के लिए आवश्यक धन भी। ६. प्रभु से दिये गये धनों को यज्ञों में विनियुक्त करकें यह प्रभु का प्रिय बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है।

भावार्थ—हमारे सब व्रतों व यज्ञों को सिद्ध करनेवाले प्रभु ही हैं। वही यज्ञिय भावना को जागरित करते हैं और यज्ञपूर्ति के लिए आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शरीर क्यों? प्रभु-प्राप्ति के लिए

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजङ्गच्छ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे॥१७॥

१. प्रभु वत्स को सम्बोधित करते हैं कि हे **शुक्र**=दीप्त ज्ञानवाले (शुच् दीप्तौ), शुचि मनवाले अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशील जीव! **एषा**=यह **ते**=तेरे लिए **तनूः**=शरीर है (तन् विस्तारे) सब विस्तृत शक्तियों से सम्पन्न यह शरीर तुझे दिया गया है। इस शरीर में **एतत् वर्चः**=यह शक्ति है—'सोम'—वीर्यशक्ति तुझे प्राप्त कराई गई है। **तया**=इस शक्ति से **सम्भव**=तुझे उत्तम सन्तान को जन्म देना है और **भ्राजं गच्छ**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करना है। सोमशक्ति के मुख्यरूप से दो ही प्रयोजन हैं—सन्तान-निर्माण तथा ज्ञानाग्नि का दीपन अथवा बुद्धि को तीव्र करना। २. **जूः असि**=तू 'जव'=वेगवाला है। स्फूर्ति के साथ सब कार्यों को करनेवाला है। तूने उस-उस समय पर उस-उस कार्यभार के जुए (yoke) को **मनसा धृता**=मन से धारण किया है। तूने कर्त्तव्य समझकर उन सब कर्मों को किया है, तुझे ये बोझरूप नहीं लगे। तूने इस कार्यभार का **विष्णवे जुष्टा**=व्यापक उन्नति के लिए ही सेवन किया है। कर्त्तव्यबुद्धि से इन नियत श्रेष्ठतम कर्मों को करने से तेरा शरीर, मन व बुद्धि सभी उन्नत हुए हैं, सभी सबल बने हैं। ३. वस्तुतः शरीर में वर्चस् की रक्षा करने पर ये परिणाम स्वाभाविक हैं कि मनुष्य स्वस्थ शरीर हो, निर्मल मनवाला बने और तीव्र बुद्धिवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्य की रक्षा के द्वारा विविध प्रकार की उन्नति करें और इस प्रकार व्यापक उन्नति करनेवाले 'विष्णु' बनें। विष्णु बनकर ही हम उस 'विष्णु' को प्राप्त करेंगे (विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्।)

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

शरीर-नियन्त्रण

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि॥१८॥

१. 'वत्स' गत मन्त्र में वर्णित प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और कहता है कि **सत्यसवसः**=सत्य-प्रेरणा देनेवाले **ते**=तेरी **तस्याः**=उस वेदवाणी की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **तन्वः**=शरीर

के **यन्त्रम्**=नियन्त्रण को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ। **स्वाहा**=वस्तुतः यह कितनी सुन्दर बात कही गई है। हम वेदवाणी के आदेश के अनुसार चलें और अपने इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में रक्खें। हमारी प्रत्येक क्रिया नियन्त्रित व नपी-तुली हो। हमारा खाना-पीना, सोना-जागना सभी नियमबद्ध हो। २. वत्स की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर-वेदवाणी के अनुकूल नियन्त्रित जीवन बिताने पर (क) **शुक्रमसि**=तू 'शुक्र' होता है-दीप्त ज्ञानवाला (शुच दीप्तौ), शुचि मनवाला व क्रियाशील जीवनवाला (शुक् गतौ) होता है, (ख) इस प्रकार का जीवन बनाकर तू इस सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक संसार में सदा **चन्द्रम् असि** (चदि आह्लादे)=आह्लादमय जीवन बितानेवाला होता है। तू दुःखों व विघ्नों से खिझ नहीं उठता। (ग) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होकर **अमृतम् असि**=असमय में रोगों से मरता नहीं। (घ) दीर्घजीवनवाला बनकर तू **वैश्वदेवम् असि**= सब दिव्य गुणों को लिये हुए हितकर जीवनवाला होता है। तेरा जीवन सब दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ब्रह्मचारी को यदि 'शुक्र'-वीर्यवान् बनना है तो गृहस्थ को 'चन्द्र' सदा आह्लादमय रहने का प्रयत्न करना है। वानप्रस्थ ने किन्हीं भी विषयों के पीछे न मरनेवाला 'अमृत' बनना है और संन्यासी ने सब दिव्य गुणोंवाला 'वैश्वदेव' बन जाना है। वैश्वदेव बनकर ही यह महादेव को प्राप्त करेगा।

भावार्थ-मनुष्य वेदवाणी के अनुसार अपने शरीर का नियन्त्रण करे। वह ज्ञानवान्, सदा प्रसन्न, रोगों से अनाक्रान्त और दिव्य गुणोंवाला बने।

ऋषिः-वत्सः। **देवता**-वाग्विद्युत्। **छन्दः**-निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**-पञ्चमः॥

वेदवाणी किधर? [Leads to God]

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय॥१९॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि हे प्रभो! आपकी वेदवाणी की अनुज्ञा में मैं शरीर का नियमन करता हूँ। प्रस्तुत मन्त्र में उस वेदवाणी के विषय में कहते हैं कि २. **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है। मनुष्यों को उस ज्ञान को देनेवाली है जिससे कि लोग मिलकर रहना सीखते हैं। ३. **मना असि**=मनन (मनु अवबोधे) अवबोध देनेवाली है। तू मनुष्यों को समझदार बनानेवाली है। ४. **धीः असि**=तू बुद्धि व कर्म है। स्वाध्यायशील लोगों की बुद्धि के विकास का कारण होती है और उन्हें उनके कर्त्तव्यों का उपदेश देती है। ५. **दक्षिणा असि**=लोगों को कर्मों में दक्ष बनानेवाली है। ६. **क्षत्रिया असि**=क्षत से बचानेवाली है। कर्मकुशल व्यक्ति कर्मबन्धन में नहीं फँसता। एवं, वेदवाणी मनुष्य को कर्मबन्धन से तो बचाती ही है, यह उसकी वृत्ति को दृढ़ बनाकर इसे असुरों के आक्रमण से भी सुरक्षित रखती है। वेदवाणी का स्वाध्याय करनेवाला आसुर वृत्तियों का शिकार नहीं होता। ७. **यज्ञिया असि**=यह वेदवाणी यज्ञों में विनियुक्त होती है। मानव-जीवन को यज्ञिय बनाती है। ८. **अदितिः असि**=यज्ञिय बनाकर विलासों का शिकार नहीं होने देती और इस प्रकार जीव को अखण्डित रखती है (दो अवखण्डने)। ९. **उभयतः शीर्ष्णी**=यह इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचानेवाली है। यह इहलोक का अभ्युदय देती है तो परलोक का निःश्रेयस। एवं, यह वेदवाणी पूर्णधर्म का प्रतिपादन करनेवाली है।

१०. **सा**=वह उल्लिखित गुणों से विशिष्ट वेदवाणी **नः**=हमें **सुप्राची**=सुन्दरता से

आगे ले-चलनेवाली हो (सु प्र-अञ्च), हमारी उन्नति का कारण हो। हम आगे बढ़ें परन्तु हे वेदवाणि! तू ११. **सुप्रतीची एधि** =हमें सुन्दरता से वापस लानेवाली हो, अर्थात् हमें वह प्रत्याहार का पाठ भी पढ़ाए। इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के लिए विषयों में जाएँ, परन्तु उन्हीं में उलझ न जाएँ। १२. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) अपने को पापों से बचानेवाला व्यक्ति **त्वा**=हे वेदवाणि! तुझे **पदि**=(पद गतौ) क्रिया में **बध्नीताम्**=बाँधे, अर्थात् तेरी प्रेरणाओं को क्रियान्वित करें (वेद की पुस्तक को पाँवों में नहीं बाँधना)। १३. **पूषा**=अपना सच्चा पोषण करनेवाला **अध्वनः**=मार्ग के दृष्टिकोणों से **पातु**=तुझे अपने पास सुरक्षित रक्खे। तुझसे ही वह अपने जीवन-मार्ग का निर्माण कर पाएगा। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही जीवन-पथ बनेगा। १४. यह जीवन-पथ **अध्यक्षाय**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु इन्द्र की ओर ले-जाने के लिए होगा। (The vedic path (मार्ग) will lead us to God)।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन-पथ बनाएँ। यह पथ हमें प्रभु की ओर ले-चलेगा।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—साम्नीजगती[क], साम्न्युष्णिक्[ख]। **स्वरः**—निषादः[क], ऋषभः॥

सोमसखा का समावर्त्तन

[क]**अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।**
[ख]**सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमꣳरुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥२०॥**

१. गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी के अध्ययन के लिए जब विद्यार्थी आचार्यकुल में जाता है तब कहीं माता-पिता आदि का मोह उसके मार्ग में प्रतिबन्धक न हो जाए, अतः कहते हैं कि २. वेदवाणी के अध्ययन के लिए जाते हुए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे। **पिता अनुमन्यताम्**=पिता भी अनुमति दें। **सगर्भ्यः**. **भ्राता**=सहोदर भाई **अनुमन्यताम्**=अनुकूल मति दे। **सयूथ्यः सखा**=समान यूथ में रहनेवाला, एक ही पार्टी में रहनेवाला साथी भी **अनुमन्यताम्**=वेदाध्ययन के लिए जाने की स्वीकृति दे, अर्थात् उसे आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाने की सभी स्वीकृति दें। सारा वातावरण उसके अनुकूल हो। ३. सबकी अनुमति से आचार्यकुल में जाकर यह वेदाध्ययन करता है और वेदवाणी को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देवि**=ज्ञान का प्रकाश देनवाली वेदवाणि! **सा**=वह तू **देवम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर **इहि**=(गमय) हमें प्राप्त करा। तेरे ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करके हम प्रभु का ज्ञान व दर्शन करनेवाले बन सकें। **इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **इहि**=(गमय) प्राप्त करा, क्योंकि इस सोम की रक्षा के बिना हम वेदवाणी को समझ न पाएँगे। ज्ञानाग्नि का ईंधन यह सोम ही है। ४. हे वेदवाणि! **रुद्रः**=(रुत् र) ज्ञानोपेदश को देनेवाला आचार्य **त्वा**=तेरा **आवर्तयतु**=आवर्तन कराए। आचार्य से कराया गया आवर्तन ही हमें वेदवाणी का आधिपत्य प्राप्त कराता है। इस आवर्तन के बिना हम वेद को समझ नहीं सकते। **स्वस्ति**=इस अध्ययन से हमारा कल्याण हो, हमारा जीवन उत्तम बने। ५. प्रभु इस वेदाध्ययन करनेवाले 'वत्स' से कहते हैं कि **सोमसखा**=सोम का मित्र बनकर, वीर्यशक्ति का रक्षक बनकर **पुनः एहि**=तू फिर अपने घर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर। अथवा माता-पिता आदि ही वेदाध्ययन के लिए जाने की अनुमति देते हुए कहते हैं कि सोमसखा बनकर तूने फिर आना। वस्तुतः यही लौटना तो वैदिक संस्कृति में 'समावर्त्तन' है। सोमसखा ही ब्रह्मचारी है। वह आचार्यकुल

से लौटकर अपने ज्ञान व आचरण से सबका प्रिय बनता है और इस प्रकार सचमुच 'वत्स' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम माता-पितादि की स्वीकृति से आचार्यकुल में जाएँ। वहाँ वेदाध्ययन करके अपने जीवन को उत्तम बनाकर पुनः वापस आएँ।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—विराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

रुद्र वसुओं के साथ (आचार्य शिष्यों के साथ)

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्यकुल में आये हुए विद्यार्थियों को आचार्य वेदज्ञान प्राप्त कराता है। वेदज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी अनुभव करता है और कहता है कि हे वेदवाणि! तू **वस्वी असि**=उत्तम निवास देनेवाली है। जीवन के लिए सब उत्तम साधनों का प्रतिपादन करके तू हमारे जीवन को उत्तम बनाती है। २. **अदितिः असि**=तू हमारा खण्डन न होने देनेवाली है। हमारे स्वास्थ्य की तू साधिका है। ३. **आदित्या असि**=गुणों का आदान करनेवाली है (आदानात् आदित्यः)। तेरे अध्ययन से हममें गुणग्रहण की वृत्ति प्रबल होती है। ४. **रुद्रा असि**=तू संसार के सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली है (रुत्+र)। सब सत्य विद्याओं की खान है। ५. **चन्द्रा असि**=तू हमारी मनोवृत्ति को आनन्दमय बनानेवाली है। इसके अध्ययन से मन निर्मल व द्वेषशून्य हो जाता है। ६. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान का पति **त्वा**=तुझे **सुम्ने**=प्रभु-स्तवन में **रम्णातु**=(रमयतु) रमण करनेवाला बनाये, अर्थात् वेदज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह इन वेदवाणियों से प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव करे। ७. **रुद्रः**=उपदेश देनेवाला आचार्य **वसुभिः**=अपने समीप निवास करनेवाले अन्तेवासी शिष्यों के साथ **आचके**=तेरी ही कामना करे, अर्थात् आचार्य और शिष्य वेदज्ञान में आनन्द का अनुभव करें। (यहाँ विद्यार्थी को 'वसु' कहा है, क्योंकि वह आचार्य के समीप निवास करता है, वसति इति)।

भावार्थ—आचार्य व शिष्य वेदवाणी के पढ़ने में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्ञानपूर्वक कर्म

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्याऽइडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः॥२२॥

१. आचार्य विद्यार्थी को वेदज्ञान देकर कहता है कि **अदित्याः**=इस अखण्डन की कारणभूत वेदवाणी के **मूर्धन्**=शिखर पर **त्वा**=तुझे **आजिघर्मि**=सब प्रकार से दीप्त करता हूँ, अर्थात् तुझे उच्च वेदज्ञान प्राप्त कराता हूँ और साथ ही **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं से किये जानेवाले यज्ञों में **आजिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। तू जहाँ ज्ञान से चमकता है वहाँ यज्ञों के द्वारा विख्यात होता है। २. **इडायाः**=वेदवाणी का तू **पदम् असि**=आधार, आश्रय है। वेदवाणी तुझमें स्थित हुई है। **घृतवत्**=इसीलिए तू मलों के क्षरण

से ज्ञान की दीप्तिवाला बना है। (**घृ**=क्षरण तथा दीप्ति)। **स्वाहा**=तेरी चारों ओर प्रशंसा-ही-प्रशंसा है (सु आह)। ३. हमारी यही प्रार्थना हो कि हे वेदवाणि! तू **अस्मे**=हममें **रमस्व**=रमण कर। **अस्मे**=हममें **ते**=तेरा **बन्धुः**=बन्धुत्व हो। **त्वे रायः**=तेरी सम्पत्तियाँ ही **मे रायः**=मेरी सम्पत्तियाँ हों। ४. **वयम्**=हम ज्ञानरूप सम्पत्ति को प्राप्त करके इस सांसारिक **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **मा**=मत **वियौष्म**=पृथक् हों। हमारी **रायः**=सम्पत्तियाँ **तोतो** (तु गतिवृद्धि-हिंसासु)=(क) हमें क्रियाशील बनाये रक्खें, इन्हें प्राप्त करके हम अकर्मण्य न हो जाएँ। (ख) ये सम्पत्तियाँ हमारे वर्धन का कारण हों। इनके कारण वैषयिक वृत्तिवाले होकर हम ह्रास की ओर न चले जाएँ। (ग) ये धन हमारी सब दुर्गतियों की हिंसा करनेवाले हों।

'तोतो' शब्द महीधर के अनुसार कलत्र (स्त्री) के अर्थ में निपात है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि हमारी सम्पत्तियाँ कलत्र में स्थित हों, अर्थात् हमारे घरों में सम्पत्तियों के संग्रह व व्यय का कार्य स्त्रियों के अधीन हो। 'पुरुष कमाये स्त्री व्यय करे, जोड़े' यही तो गृहस्थ का सुन्दर नियम है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान के शिखर पर पहुँचें तो साथ ही यज्ञशील भी बनें। हम धन कमाएँ, परन्तु वह धन हमारे ह्रास का कारण न बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी के सन्दर्शन में

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा।

मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में आचार्य से वेदवाणी के पढ़ने का उल्लेख था। वेदवाणी का पढ़नेवाला यह 'वत्स' कहता है कि मैं **सम् अख्ये**=(सं चक्ष्) इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, (क) **देव्या धिया**=प्रकाशमय बुद्धि के दृष्टिकोण से। मैं इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरी बुद्धि प्रकाशमय हो, मेरा ज्ञान उज्ज्वल हो। (ख) **सम् (अख्ये)**=मैं इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, **दक्षिणया** (धिया)=दक्षिण क्रिया के हेतु से (धी=कर्म) इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरे कर्म कुशलता से, दक्षिणता से किये जाएँ। कुशलता से किये जाकर वे कर्म मेरे लिए बन्धनशील न हों। (ग) **उरुचक्षसा** (धिया)=विशाल दृष्टि के ध्यान से (धी=ध्यान)। मैं वेदवाणी का अध्ययन इसलिए करता हूँ कि मेरा प्रत्येक कर्म विशाल दृष्टिकोण से प्रेरित होकर हो, मैं केवल अपना हित देखकर कर्म करनेवाला न बन जाऊँ। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह वेदवाणी हमारी बुद्धि को उज्ज्वल बनाती है, हमें कुशलता से कार्य करनेवाला करती है और हमारे दृष्टिकोण को विशाल बनाती है। २. वत्स इस वेदवाणी से प्रार्थना करता है कि **मे**=मेरे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=चुराना, लुप्त करना। वेदवाणी के द्वारा मैं सुन्दर दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ। **मा उ**=और न ही **अहम्**=मैं **तव**=तेरा प्रमोषण करूँ, अर्थात् मेरे जीवन में वेदवाणी का सतत अध्ययन होता ही रहे। हे **देवि**=मेरे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली वाणि! मैं **तव सन्दृशि**=तेरे सन्दर्शन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन का यापन करूँ। कभी तेरी आँख से ओझल न होऊँ। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही मेरे सारे कार्य हों। मैं इस **वीरं विदेय**=शत्रुओं के कम्पित करनेवाले ज्ञान को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से हमारी प्रज्ञा (धी) उज्ज्वल हो, हमारे कर्म कुशलता से किये जाएँ और कर्मों के करते समय हमारा दृष्टिकोण विशाल हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती[क], याजुषीपङ्क्तिः[ख]। **स्वरः**—निषादः[क], पञ्चमः[ख]॥

ज्ञान-पुष्प विचयन

[क]एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यङ्गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माको ऽसि शुक्रस्ते [ख]ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥२४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि **एषः**=यह **ते**=आपका **गायत्रः**=गायत्रीछन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने गायत्रीछन्द के मन्त्रों का खूब अध्ययन किया है, उन्हें अपने जीवन का भाग (part and parcel) बनाया है, **इति**=इस कारण **मे**=मुझ **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=इसका उपेदश कीजिए। २. **एषः**=यह **ते**=आपका **त्रैष्टुभः**=त्रिष्टुप् छन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने त्रिष्टुप्छन्द के मन्त्रों द्वारा 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का स्तवन किया है, अर्थात् तीनों का ही ज्ञान प्राप्त किया है। अथवा इन तीनों का ज्ञान प्राप्त करके 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' तीनों ही कष्टों को समाप्त किया है अथवा 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों शत्रुओं को अन्दर घुसने से रोका है (त्रि-स्तुप् to stop)। एवं, ये मन्त्र आपके जीवन का भाग बन गये हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=आप इनका उपदेश कीजिए। ३. हे प्रभो! **एषः**=यह **ते**=तेरा **जागतः**=जगतीछन्द-सम्बन्धी मन्त्रों का **भागः**=सेवन है। आपने जगती छन्द के मन्त्रों का अध्ययन करके उन्हें अपने जीवन का भाग बना लिया है और परिणामतः आप सर्वभूतहित में रत हुए हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य के लिए **ब्रूतात्**=इनका उपदेश कीजिए।

४. आप **छन्दोनामानाम्**=उष्णिक् आदि छन्द नामवाले मन्त्रों के **साम्राज्यं गच्छ**=साम्राज्य को प्राप्त हुए हैं (अगच्छाः=गच्छ) अर्थात् उनके अधिपति बने हैं, **इति**=अतः **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=उनका उपदेश कीजिए। ५. **आस्माकः असि**=(अस्माकमयत् इति) आप हमारे उपदेष्टा हैं। आप हमारा हित चाहनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=आप (शुच् दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाले हैं (शुचि पवित्र) पवित्र मनवाले हैं (शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील (ब्रह्मज्ञानी) हैं **(क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः)** ७. **ते**=आपकी यह वेदवाणी **ग्रह्यः**=हमारे ग्रहण के योग्य है। अथवा आपका यह वेदज्ञान औरों से ग्रहण के योग्य है। आप इस वेदज्ञान को देने के लिए सदैव उद्यत हैं। ८. **विचितः**=विशेष रूप से या **वि**=एक- एक करके इन ज्ञानपुष्पों का चयन करनेवाले ब्रह्मचारी **त्वा विचिन्वन्तु**=आपसे इन ज्ञानपुष्पों का चयन करें। (चि धातु, द्विकर्मक है 'वृक्षम् अवचिनोति फलानि) जैसे एक पुजारी बाग में आकर वृक्षों से फूलों का अवचयन करता है इसी प्रकार एक सौम्य शिष्य आचार्यरूप वृक्ष से ज्ञानरूप पुष्पों का चयन करता है। यही विद्यार्थी आचार्य का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—आचार्य ज्ञानी हो, विद्यार्थी का भला चाहे। विद्यार्थी सौम्य हो, उसमें ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामना हो। ज्ञानपुष्पों का चयन ही उसका ध्येय हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्शक्वरीः। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानपुष्पों से प्रभु का अर्चन

[क]अभि त्यं देवꣳसवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳरत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत [ख]सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि॥ २५॥

१. गत मन्त्र में ज्ञानपुष्पों के चयन का उल्लेख था। उन ज्ञानपुष्पों का चयन करके प्रस्तुत मन्त्र में उन पुष्पों द्वारा प्रभु के अर्चन का उल्लेख करते हैं। इन ज्ञानपुष्पों का अवचयन करके मैं **त्यम्**=उस **देवम्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **सवितारम्**=सबके प्रेरक परमात्मा की **अभि**=ओर जाता हूँ और **ओण्योः**=द्यावापृथिवी के इस (ओणृ अपनयने, द्यौष्पिता पृथिवी माता, ये द्युलोकरूपी माता-पिता हमारे कष्टों का अपनयन करते हैं) **कविक्रतुम्**=ज्ञानी निर्माता (creator) को **अर्चामि**=पूजता हूँ। वे प्रभु इस संसार का निर्माण करनेवाले हैं और इसके निर्माण में एक-एक पिण्ड में प्रभु की प्रज्ञा का प्रकाश हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ की रचना अपने में पूर्ण है **'पूर्णमदः, पूर्णमिदम्'**। इस संसार का निर्माण प्रभु की सर्वज्ञता का प्रमाण है। २. मैं उस प्रभु की अर्चना करता हूँ जोकि **सत्यसवम्**=सदा सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं। **रत्नधाम्**=हममें उत्तमोत्तम रत्नों=रमणीय रुधिर आदि धातुओं का धारण करनेवाले हैं, **अभिप्रियम्**=सबके प्रति प्रेमवाले हैं। **मतिम्**=सर्वज्ञ हैं **कविम्**=क्रान्तदर्शी हैं व सृष्टि-आरम्भ में सब विद्याओं का ज्ञान देनेवाले हैं (कौति सर्वा विद्याः) ३. **यस्य**=जिस प्रभु की **अमतिः**=न मापने योग्य (Immeasureable) **भा**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=सर्वोत्कृष्ट होती हुई **अदिद्युतत्**=दीप्त हो रही है। संसार में एक-से-एक बढ़कर ज्ञानी विद्यमान हैं, यह ज्ञान का तारतम्य प्रभु में आकर विश्रान्त हो जाता है, उनसे अधिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं, अतः वह ऊर्ध्वा=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति सर्वत्र द्योतित हो रही है।

४. **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में **हिरण्यपाणिः**=(हिरण्यं वीर्यम्) शक्तिशाली हाथोंवाला वह **सुक्रतुः**=सर्वोत्तम कर्त्ता (creator) **कृपा**=अपने सामर्थ्य से अथवा प्राणिमात्र पर दया से **स्वः**=इस देदीप्यमान सूर्य का **अमिमीत**=निर्माण करता है। **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**=यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही तो है। ५. प्रभु इस सूर्य से कहते हैं कि **प्रजाभ्यः त्वा**=इन प्रजाओं के हित के लिए मैंने तुझे बनाया है। **प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वा अनुप्राणन्तु**=तेरी अनुकूलता में प्राणशक्ति को धारण करें। **त्वम्**=तू **प्रजाः अनुप्राणिहि**=प्रजाओं को प्राणशक्ति से सञ्चरित कर दे। तू उनमें प्राणशक्ति फूँक दे। संसार में यह सूर्य प्रभु की अद्भुत रचना है। ३३ देवों का यही मुखिया है। इसकी रचना का अध्ययन हमें प्रभु की विभूति का दर्शन कराता है। हम इस विभूति-दर्शन से प्रभु का दर्शन करने में समर्थ होते हैं और प्रभु के प्रिय बन पाते हैं—'वत्स' हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति द्वारा प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शुक्र-चन्द्र-अमृत

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥ २६॥

१. पिछले मन्त्र में 'अभि त्यम्'=उस प्रभु की ओर चलने का वर्णन है। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **शुक्रं त्वा**=ज्ञान से दीप्त आपको **शुक्रेण**=ज्ञान की दीप्ति से **क्रीणामि**=खरीदता हूँ, प्राप्त करता हूँ। **चन्द्रम्**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय आपको **चन्द्रेण**=आह्लादमयता से प्राप्त करता हूँ। **अमृतम्**=अमृत आपको **अमृतेन**=अमृतत्व से, नीरोगता से प्राप्त करता हूँ। वस्तुतः प्रभु की उपासना व प्राप्ति का प्रकार यही है कि हम प्रभु-जैसे बनें। प्रभु सर्वज्ञ हैं, आनन्दमय हैं, अमर हैं। उपासक को भी चाहिए कि नैत्यिक स्वाध्याय से अपने मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करके 'शुक्र' बने, मन को राग-द्वेषादि मलों से रहित करके मनःप्रसाद को सिद्ध करके 'चन्द्र' बने और पथ्य का मात्रा में सेवन करते हुए नीरोग व 'अमृत' बने। प्रभु-प्राप्ति का यही सूत्र है—'शुक्र-चन्द्र-अमृत'। २. **सग्मे**=यजमान में **ते**=तेरी **गौ**=वेदवाणी स्थापित होती है। जितना-जितना मनुष्य यज्ञशील बनता है उतना-उतना वेदवाणी का आधार बनता है। (सग्मे ते गौरिति यजमाने ते गौरिति—श० ३।२।६।७)। यजमान बनने का पहला पग 'देवपूजा' है। देवों की पूजा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३. **अस्मे**=हमारे लिए **ते**=तेरी **चन्द्राणि**=आह्लादवृत्तियाँ हों। हम सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाले बनें। वस्तुतः जितना-जितना ज्ञान अधिक होता है उतना-उतना ही आनन्द अधिक होता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'यजमान' बनना, देवपूजा की वृत्तिवाला बनना आवश्यक है। ४. **तपसः तनूः असि** =हे प्रभो! आप तो शरीरबद्ध तप हैं, तप के कारण ही तो आप अपने उच्च स्थान में स्थित हैं। **प्रजापतेः वर्णः** =आप अक्षरशः प्रजापति हैं। जो जितना-जितना तपस्वी होता है वह उतना-उतना ही लोकहित कर पाता है। वह उपासक भी आपका सच्चा उपासक है जो तपस्वी बनकर प्रजापति बनता है।

५. हे प्रभो! आप **परमेण पशुना**=उत्कृष्ट जीव से **क्रीयसे**=खरीदे जाते है—प्राप्त किये जाते हैं। परम अर्थात् पूर्ण वही है जिसने स्वास्थ्य साधन से अमृतता को सिद्ध किया है, तपस्या के द्वारा मनःप्रसाद को सिद्ध करके जो चन्द्र बना है और जो ज्ञान को दीप्त करके शुक्र बना है। जिसने शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के ही स्वास्थ्य का साधन किया है, वही 'परम-पशु' है। ५. इन्हीं साधनाओं को निर्विघ्नता से कर सकने के लिए मैं **सहस्रपोषम्**=उतने धन को जो हज़ारों का पोषण करनेवाला है **पुषेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ। मैं धन के दृष्टिकोण से निश्चिन्त होऊँ, परन्तु धन का ही दास न बन जाऊँ। मेरा धन शतशः लोगों का पोषण करनेवाला हो।

भावार्थ—मैं 'शुक्र-चन्द्र-अमृत' बनूँ। तपस्वी व लोकहित करनेवाला बनूँ। सहस्रों का पोषण करनेवाले धन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सात बातें (Seven Points)

मित्रो नऽएहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तꣳस्योनः स्योनम्। स्वान भ्राजाङ्गारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन्॥२७॥

१. उपासक की ही प्रार्थना का प्रसङ्ग चल रहा है। उपासक कहता है कि हे **सुमित्रध** (सु-मित्र-ध)=उत्तम स्नेह करनेवालों के धारक प्रभो! **मित्रः**=सब पापों से बचानेवाले आप (प्रमीतेः त्रायते) **नः**=हमें **एहि**=प्राप्त होओ। वस्तुतः संसार में पापों के मूल में स्नेह का न होना और द्वेष का होना ही है। मनुष्य द्वेषवृत्ति से ऊपर उठता है तो पाप से भी ऊपर

उठ जाता है, परन्तु यह सब प्रभुकृपा से ही होता है। २. हे प्रभो! आप **उशन्**=सबका भला चाहनेवाले हैं, **स्योनः**=सुखस्वरूप हैं। आप **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठता जितेन्द्रिय पुरुष के **उरुम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष में, जोकि **दक्षिणम्**=(दक्षतेः उत्साहकर्मणः) उत्साह से परिपूर्ण है, **उशन्तम्**=सभी का भला चाहनेवाला है, **स्योनम्**=आनन्दमय है, जो सब प्रकार के विषादों से ऊपर उठ चुका है, उस हृदय में **आविश**=प्रवेश कीजिए। यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हम हृदय में (क) उत्साह को धारण करें (ख) सब का भला चाहें (ग) और मनःप्रसादरूप तप को सिद्ध करें।

उपासक की प्रार्थना का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि ३. (क) **स्वान** (सु+आन)= उत्तम प्राणशक्ति को धारण करनेवाले (अन प्राणने), (ख) **भ्राज**=ज्ञान से दीप्त (भ्राजृ दीप्तौ), (ग) **अङ्गारे**=पाप के शत्रु, अर्थात् नाशक (घ) **बम्भारे** (बन्धानां सुविचारनिरोधकानां शत्रुः—द०) ज्ञान के प्रतिबन्धक आलस्यादि दोषों को दूर करनेवाले (ङ) **हस्त**=(हस्) सदा हास्ययुक्त मुखवाले (Smiling face) (च) **सुहस्त**=सधे हुए हाथोंवाले, अर्थात् कार्यों को कुशलता से करनेवाले—प्रत्येक क्रिया को कलापूर्ण ढङ्ग से करनेवाले (छ) **कृशानो**=(कृशान् आनयति) दुर्बलों के अन्दर प्राणों का सञ्चार करनेवाले अथवा (दुष्टान् कृशति—द०) दुष्टों को कृश करनेवाले **वः**=तुम्हारी **एते**=ये सात बातें **सोमक्रयणाः**=सर्वज्ञ प्रभु को खरीदनेवाली हैं। इन सात बातों को अपने जीवन में लाकर ही तुम प्रभु को अपना सकते हो। इन्हीं सात बातों को सात रत्न समझना। ये सात बातें ही तुम्हें सप्तर्षि बनानेवाली होंगी। बस, **तान् रक्षध्वम्**=इनकी रक्षा करना, जिससे संसार के प्रलोभन **वः** =तुम्हें **मा**=मत **दभन्**=हिंसित करनेवाले हों। तुम इन बातों को अपनाओगे तो संसार के प्रलोभनों के विजेता बनोगे। इस विजय को वही करता है जो 'स्वान-भ्राज-अङ्गारि-बम्भारि-हस्त-सुहस्त व कृशानु' बनता है।

भावार्थ—हम 'उत्तम प्राणशक्तिवाले, ज्ञानदीप्त, पाप-शत्रु, ज्ञानप्रतिबन्धनिवर्तक, प्रसन्न, सिद्धहस्त व निर्बलों को उत्साहित करनेवाले और दुष्टों को कृश करनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—साम्नीबृहती [क], साम्न्युष्णिक् [ख]। **स्वरः**—मध्यमः [क], ऋषभः॥

उदायुः-स्वायुः

[क]परि॑ माग्ने॒ दुश्च॑रिताद् बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज।

[ख]उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृता॒ँ२॥ऽअनु॑॥ २८॥

१. पिछले मन्त्र में कही गई सात बातों को सुनकर उपासक प्रभु से कहता है कि यह सब आपकी कृपा से ही होगा। हे **अग्ने**=मेरे सारे पापों का दहन करनेवाले प्रभो! आप अग्निरूप हैं। अग्नि में पड़कर जैसे सब मलों के भस्म हो जाने से सोना शुद्ध होकर चमक उठता है, इसी प्रकार आपमें पड़कर ही तो मैं निष्पाप बनकर चमक सकूँगा। आप **मा**=मुझे **दुश्चरितात्**=सब दुराचारों व दुर्वृत्तियों से **परिबाधस्व**=रोकिए। ये दुर्वृत्तियाँ मुझसे दूर रहें आप **मा**=मुझे **सुचरिते**=उत्तम चरित्र में **आभज**=भागी बनाइए। आपकी कृपा से मैं उत्तम बातों का ही सेवन करनेवाला बनूँ—दुराचार से दूर, सदाचार के समीप। २. **उदायुषा** =(उत्=out उद् इ=outlive) सब रोगों को पार करते हुए दीर्घजीवन से तथा **स्वायुषा**=उत्तम दिव्य (सु) जीवन से मैं **उद् अस्थाम्**=इन दीर्घ व दिव्य जीवनवालों की श्रेणी में ऊपर ठहरूँ दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर मनुष्य दीर्घ व दिव्य जीवन को प्राप्त करत

है। मन्त्र में शब्दक्रम के द्वारा यह कार्यकारणभाव स्पष्ट है। निष्पापता से ही दीर्घजीवन मिलता है। ३. **अमृतान् अनु**=मैं सांसारिक प्रलोभनों के पीछे न मरनेवाले देवों के पीछे ही चलनेवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर दीर्घ व दिव्य बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रास्ता=द्वेष-त्याग

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥२९॥

पिछले मन्त्र की प्रार्थना थी कि हम 'दुराचार से दूर और सदाचार के समीप हों'। वही प्रार्थना शब्द परिवर्तन के साथ पुनः की जाती है कि **पन्थाम्**=सन्मार्ग को **प्रति अपद्महि**=प्राप्त हों। सदा मार्ग पर ही चलें, मार्ग से कभी भटकें नहीं। स्तुति-निन्दा, लाभ-हानि व जीवन-मरण भी हमें मार्ग से भटकानेवाले न हों। २. हम उस मार्ग को प्राप्त हों जो **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर ले-जानेवाला है, हमारे जीवन की स्थिति को उत्तम करनेवाला है (सु+अस्ति) और **अनेहसम्**=एहस् 'पाप' से शून्य है। वस्तुतः कल्याण का मार्ग वही है जो पापशून्य है। दूसरा मार्ग तो थोड़ी-सी देर के लिए चमककर फिर अन्धकारमय हो जानेवाला है। ३. पापशून्य मार्ग वह है **येन**=जिससे जीव **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को (द्वेषणं द्विट्) **परिवृणक्ति**=छोड़ देता है और **वसु**=निवास के लिए उत्तम धनों को **विन्दते**=प्राप्त करता है। द्वेष से शरीर में कुछ ऐसे विष पैदा हो जाते हैं जिनसे दीर्घ जीवन की प्राप्ति सम्भव नहीं रहती। द्वेष मन को सदा मलिन किये रहता है, उससे मन में प्रसाद व उल्लास का अभाव हो जाता है जो आयुष्य के लिए बड़ा घातक होता है।

भावार्थ—हम निर्द्वेषता व प्रेम के कल्याणकर, पापशून्य मार्ग पर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—स्वराड्याजुषीत्रिष्टुप्[क], आर्षीत्रिष्टुप्[ख]। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण के व्रत

[क]अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सदऽआसीद।
[ख]अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षममिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥३०॥

१. गत मन्त्र का निर्द्वेषता व प्रेम के मार्ग पर चलनेवाला 'वत्स' सचमुच वसुओं को प्राप्त करता है। प्रभु उससे कहते हैं कि तू तो **अदित्याः**=अखण्डन की देवता=दिव्य गुणों की निर्मात्री अदिति का **त्वक् असि**=स्पर्श करनेवाला है या उसके संवरणवाला है, अर्थात् तूने अदिति को प्राप्त किया है। यह अदिति अखण्डन की देवता है, तेरा शरीर जहाँ रोगों से खण्डित नहीं होता वहाँ तेरा मन वासनाओं से दूषित नहीं होता। **अदित्यै**=इस अदीना देवमाता के लिए **सदः**=आसन (seat) बनकर **आसीद**=तू ठहर, विराजमान हो। तुझमें अदिति का प्रतिष्ठापन हो। तू अदिति का आधार हो। २. इस अदिति के प्रतिष्ठापन से तूने **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामा है। यह अदिति तेरे द्युलोक को थामे। तू

वृषभः=पुरुषों में श्रेष्ठ हो। वृषभ बनकर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **अस्तभ्नात्**=थाम तथा **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर की **वरिमाणम्**=विशालता को **अमिमीत**=निर्मित कर, अर्थात् इस अदिति के द्वारा तेरा मस्तिष्क, हृदयान्तरिक्ष व शरीर सभी उत्तम बनें, तभी तो तू 'वृषभ'=श्रेष्ठ बनेगा। ३. इस प्रकार श्रेष्ठ बनकर तू **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **सम्राट्**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त करता हुआ **आसीदत्**=ठहर। अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट न होकर तू सब लोकों के हित में प्रवृत्त हो और सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करने का प्रयत्न कर। ४. **विश्व इत् तानि**=बस, ये सभी सचमुच **वरुणस्य व्रतानि**=वरुण के व्रत हैं। इन व्रतों के पालन से ही मनुष्य वरुण=श्रेष्ठ बनकर उस वरुण=परमात्मा को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—१. हम अदिति के अधिष्ठान बनें, २. मस्तिष्क, हृदय व शरीर को स्वस्थ बनाएँ। ३. सब लोकों में ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें। ४. यही मार्ग है वरुण बनने का व प्रभु को प्राप्त करने का।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण की महिमा

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयऽउस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥३१॥

१. वरुण प्रभु ने **वनेषु**=वनों में **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष का **विततान**=विशेषरूप से विस्तार किया है। नगरों व ग्रामों में क्षितिज छोटा हो जाता है, क्योंकि वहाँ मकान आदि दृष्टि की रुकावट के कारण बन जाते हैं। २. उसी वरुण ने **अर्वत्सु**=घोड़ों में **वाजम्**=शक्ति को विस्तृत किया है। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है। 'Horse power' यह शब्द ही घोड़े के साथ शक्ति के सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। वह घोड़ा घोड़ा क्या जो मरियल-सा हो। ३. वरुण ने **उस्रियासु**=गौवों में **पयः**=दूध को **वि अदधात्**=विशेषरूप से रक्खा है। दूध न देनेवाली गौ गौ ही नहीं। ४. इस वरुण ने **हृत्सु**=हृदयों में **क्रतुम्**=कर्मसंकल्प की स्थापना की है। कर्मसंकल्पशून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूध से रहित गौ। ५. उस **वरुणः**=वरुण ने **विक्षु**=प्रजाओं में **अग्निम्**=मलों को दूर करने की साधनभूत अग्नि की स्थापना की है। प्रजाओं को चाहिए कि इस यज्ञाग्नि को वे अपने घरों में कभी बुझने न दें। ६. **दिवि सूर्यम् अदधात्**=उस वरुण ने द्युलोक में सूर्य को स्थापित किया है और **अद्रौ**=पर्वत पर **सोमम्**=सोम को। ओषधियों का राजा सोम है। सूर्य से इन ओषधियों में प्राणशक्ति की स्थापना होती है।

भावार्थ—हमें अपने हृदयों में कर्मसंकल्प धारण करना चाहिए। कर्मसंकल्प-शून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि संकुचित अन्तरिक्षवाला वन, शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूधरहित गाय, यज्ञाग्नि से रहित गृहस्थ, सूर्यशून्य द्युलोक और ओषधियों से शून्य पर्वत।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्यादि के प्रकाशक

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्षणः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥३२॥

प्रभु सूर्यादि सब देवों के प्रकाशक हैं। **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्षुः**=प्रकाशक प्रभु को, **अग्नेः (चक्षुः)**=इस पृथिवीस्थ देव अग्नि के भी प्रकाशक उस प्रभु को तथा जो **अक्ष्णः**=आँख की **कनीनकम्**=पुतली के स्थानापन्न हैं, उस प्रभु को **आरोह**=तू प्राप्त हो। जैसे योगारुढ़ बनने का अभिप्राय है योगमार्ग को प्राप्त करना, इसी प्रकार प्रभु को आरुढ़ होने का अभिप्राय है कि तू प्रभु को प्राप्त हो। मानव-जीवन का यही लक्ष्य है कि हम इस प्राकृतिक संसार में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु तक पहुँचने का प्रयत्न करें। वे प्रभु ही सूर्य को प्रकाश दे रहे हैं—अग्नि में उन्होंने ही दाहक शक्ति को रक्खा है और आँख को भी रोशनी देनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रकाशमय पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

पिछले मन्त्र में 'हृदय में कर्मसङ्कल्प के धारण' का उल्लेख था। हमारे हृदयों में प्रभु-प्राप्ति का सङ्कल्प हो। प्रस्तुत मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि हमारा हृदय वह है **यत्र**= जहाँ **भ्राजमानः**=देदीप्यमान वे प्रभु विराजते हैं और **विपश्चिता**=(वि पश् चित्) इन सूर्यादि पिण्डों को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाले पुरुष से **एतशेभिः** =इन इन्द्रियरूप घोड़ों के द्वारा **ईयसे**=आप प्राप्त किये जाते हो। हम अपने हृदयों में प्रभु का दर्शन करें। यह दर्शन तभी होगा जब हम सूर्यादि पिण्डों में उस प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनेंगे। इस सृष्टि-रचना को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाला पुरुष हृदयस्थ प्रभु का अवश्य दर्शन करता है। वे प्रभु भ्राजमान हैं, उनकी भ्राजमानता ही इन सूर्यादि देवों को भी भ्राजमान कर रही है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** उस प्रभु से ही ये सब देव देवत्व को प्राप्त होते हैं। मैं भी प्रभु के सम्पर्क में आकर देव बनूँगा।

भावार्थ—वे प्रभु सूर्यादि देवों के प्रकाशक हैं। सूक्ष्म दृष्टिवाला पुरुष प्रत्येक पिण्ड में प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—सूर्यविद्वांसौ। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री [क], याजुषीजगती [ख]। **स्वरः**—षड्जः [क], निषादः [ख]॥

यजमान का घर

[क]उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
[ख]स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्॥३३॥

प्रभु की उपासना करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं—

१. **उस्रौ**=(उस्रा=रश्मि—नि० १।५) ये ज्ञान की रश्मियोंवाले होते हैं। नैत्यिक स्वाध्याय के कारण इनकी ज्ञानाग्नि सदा प्रकाशित रहती है। २. **धूर्षाहौ**=(धुरं सहेते) गृहस्थ के बोझ को उठाने में ये सदा समर्थ होते हैं। प्रभु की उपासना इन्हें शक्ति देती है और ये गृहस्थ के कार्यभार का सुन्दरता से वहन करते हुए घर को स्वर्ग बनाने का यत्न करते हैं। २. **अनश्रू**=(अश्रुरहितौ सोत्साहौ) ये संसार-यात्रा में आनेवाले विघ्नों से घबरा नहीं जाते। कितने भी विघ्न आएँ ये रोने-धोने नहीं लगते, अपितु अपने उत्साह को स्थिर रखते हुए ये आगे और आगे बढ़ते हैं। भाग्य का रोना रोने नहीं बैठ जाते। ४. **अवीरहणौ**=अपने घर में वे यज्ञाग्नि को कभी बुझने नहीं देते। यज्ञाग्नि को बुझने देनेवाला 'वीरहा' है। ये दोनों अवीरहा बनते हैं। ५. **ब्रह्मचोदनौ** (ब्रह्म=वेद)=ये वेद से प्रेरणा लेनेवाले बनते हैं। श्रुति को परम प्रमाण मानते हुए ये अपनी जीवन-यात्रा के लिए वहीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

६. ऐसे तुम दोनों **एतम्**=इस गृहस्थ-शकट में **युज्येथाम्**=जुत जाओ। इन गुणों से

युक्त पति-पत्नी गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तो **स्वस्ति**=उनका कल्याण अवश्य होगा ही। **यजमानस्य**=यज्ञशील के **गृहान् गच्छतम्**=घर को तुम प्राप्त होओ, अर्थात् तुम्हारा घर ऐसा बने जहाँ यज्ञ करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक बन गया हो। यज्ञ के बिना उस घर के लोग रह ही न सकते हों।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञानरश्मियोंवाले, कार्यभार को उठाने में सक्षम, न रोनेवाले, यज्ञाग्नि को न बुझने दनेवाले तथा श्रुति से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले हों। उनका घर 'यजमान=यज्ञशील' का घर हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—भुरिगार्चीगायत्री[क], भुरिगार्चीबृहती[ख] विराडार्च्यनुष्टुप्[ग]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[ख],गान्धारः[ग]॥

संस्कृत-घर

[क]भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि।
[ख]मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृकाऽअघायवो विदन्।
[ग]श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतम्॥३४॥

पति-पत्नी अलग-अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि—१. **भद्रः मे असि**=मेरे लिए आप कल्याण व सुख को देनेवाले हैं। इहलौकिक दृष्टिकोण से आप मेरे जीवन को सुखी बनाते हैं तो पारलौकिक दृष्टिकोण से आप ही मेरा कल्याण करते हैं। २. हे **भुवस्पते**=हे सब भुवनों व भूतों के रक्षक अथवा ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **विश्वानि धामानि**=सब तेजों को **मा अभि प्रच्यवस्व**=मेरे प्रति प्राप्त कराइए (धाम Light, lustre, power, strength)। आपकी कृपा से मैं ज्ञान की दीप्तियों को प्राप्त करूँ तथा शक्तिशाली बनूँ। ३. हे प्रभो! **त्वा**=आपको (क) **परिपरिणः**=इधर-उधर घूमकर लूटनेवाले लोग (सर्वतः सञ्चरन्तस्तस्कर-विशेषाः)। **मा विदन्**=मत प्राप्त करें और इसी प्रकार (ख) **परिपन्थिनः**=(यागादीनां प्रतिषेधकाः शत्रवः) यागादि उत्तम कर्मों में विघ्न डालनेवाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। (ग) **वृकाः**=(वृक आदाने) लेने ही लेनेवाले, जिन्होंने देना सीखा ही नहीं, ऐसे लोभी लोग तथा (घ) **अघायवः**=(परस्याघं कर्तुमिच्छन्ति) दूसरे का सदा बुरा करने की कामनावाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में मैं 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' न बनूँ। इन सब वृत्तियों से ऊपर उठकर मैं आपको पानेवाला बनूँ। ४. हे प्रभो! आप तो **श्येनो भूत्वा**=श्येनवत् शीघ्रगामी होकर **परापत**=सुदूर स्थान से भी मुझे प्राप्त होओ। मैं आपसे कितना भी दूर होऊँ, अब तो मेरी यही कामना है कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपको प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः मैं स्वयं **श्येन**=क्रियाशील बनूँगा तभी आपको प्राप्त कर पाऊँगा। ५. हे प्रभो! **यजमानस्य गृहान् गच्छ**=मुझ यज्ञशील के घर को प्राप्त होओ। 'मैं गतिशील बना हूँ—मेरी गति यज्ञों में परिणत हुई है।' इस यजुर्वेद के प्रारम्भ में आपने यही प्रेरणा दी थी कि तुम गतिशील हो और सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित होते रहो। **तत्**=वह **नौ**=हमारा घर **संस्कृतम्**=संस्कृत हुआ है, शुद्ध बनाया गया है। हमने इसे इसीलिए तो पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है कि हम आपको प्राप्त कर सकें। इस घर में हम आपका आतिथ्य कर पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु से सब ज्ञानदीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करके 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' बनने से बचें। क्रियाशील व यजमान बनकर प्रभु के स्वागत के लिए अपने

घर को संस्कृत कर लें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सूर्य का शंसन

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महोदेवाय तदृतꣳसपर्यत।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शꣳसत॥३५॥

१. प्रभु की उपासना करते हुए कहते हैं कि **मित्रस्य**=दिन के अभिमानी देव सूर्य के तथा **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देव चन्द्र के **चक्षसे**=प्रकाशक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। २. **तत्**=उस **महोदेवाय**=महान् देव के लिए **ऋतम्**=ऋत की **सपर्यत**=पूजा करो, अर्थात् उस प्रभु के उपासन के लिए आवश्यक है कि हम ऋत का पालन करें। ऋत का पालन ही देवों का व्रत है। यही व्रत हमें उस ऋत—अपने तीव्र तप से ऋत को जन्म देनेवाले प्रभु के समीप प्राप्त कराएगा। ३. ऋत का पालन करते हुए उस प्रभु के लिए **शंसत**=स्तुतिवचन कहो, जो (क) **दूरेदृशे**=दूर-से-दूर देखनेवाले हैं। उन प्रभु से भागकर कभी कोई अदृष्ट नहीं हो सकता। (ख) **देवजाताय**=(**देवः जातः यस्मात्**) सब देवों को वे प्रभु जन्म देनेवाले हैं। देवों का देवत्व उस प्रभु के ही कारण है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। (ग) **केतवे**=(विज्ञानघनानन्दस्वभावाय) प्रज्ञाधन और अतएव आनन्दस्वभाव हैं। (घ) **दिवस्पुत्राय**=(दिवः पुरुत्रायते—म०) ज्ञान के द्वारा खूब रक्षण करनेवाले हैं। ज्ञान के द्वारा वे हमें (पुनाति त्रायते) पवित्र करते और हमारा रक्षण करते हैं। (ङ) **सूर्याय**=सारे संसार को कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु के शंसन का अभिप्राय यही है कि हम भी 'दूर-दृष्टि बनें, अपने में दिव्य गुणों का विकास करें, प्रकाशमय जीवनवाले हों, ज्ञान के द्वारा पवित्र बन आसुरवृत्तियों से अपना रक्षण करें और निरन्तर कर्मशील हों'।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम नमनवाले हों (नमः), ऋत का पालन करें तथा प्रभु के गुणों का शंसन करें, जिससे हमारा ध्येय उन गुणों को प्राप्त करना हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

ऋत का सदन

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्यऽऋतसदन्यसि वरुणस्यऽऋतसदनमसि वरुणस्यऽऋतसदनमासीद॥३६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **वरुणस्य**=वरुण को **उत्तम्भनम् असि**=सबसे ऊपर थामनेवाला है। तू अपने जीवन में सबसे प्रमुख स्थान प्रभु को देता है। प्रभु ही तेरे 'परायण' हैं। २. हे पति-पत्नि! आप दोनों अपने जीवन में **वरुणस्य**=उस वरुण के **स्कम्भसर्जनी स्थः**=स्कम्भ को बनानेवाले हो। आपके जीवन-भवन का स्कम्भ (खम्बा) प्रभु ही है, अर्थात् प्रभु के आश्रय में ही आपका जीवन चलता है। ३. हे पत्नि! तू **वरुणस्य**=उस वरुण के **ऋतसदनी असि**=ऋत के सदनवाली है, अर्थात् तेरा जीवन वरुण का घर बनता है। तू ऋत का पालन करती है। 'ऋतं तपः'=यह ऋत ही सर्वप्रथम तप है। तेरे जीवन में प्रत्येक कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होता है। ४. हे गृहपते! तू भी **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम् असि**=ऋत

का सदन है। तेरे जीवन में प्रत्येक कर्म ठीक होता है। तेरे सब कार्य बड़ी नियमितता से चलते हैं। ५. हे जीव! तुझे चाहिए यही कि तू **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम्**=ऋत के सदन में ही **आसीद**=बैठे। तेरा निवास उसी घर में हो जिसमें कि ऋत का निवास है, अर्थात् जिस घर में सब क्रियाएँ बड़ी व्यवस्था से चलती हैं। यह ऋतसदन में आसीन होनेवाला जीव ही प्रभु का 'वत्स' होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का सर्वोपरि आधार प्रभु है। हम उस प्रभु से प्रतिपादित ऋत का पालन करनेवाले हों। हम युक्तचेष्ट बनें, युक्तचेष्ट के लिए ही योग 'दुःखहा' होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञशीलता व सोम की रक्षा—दीप्ति व शक्ति

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्॥ ३७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'ऋत का पालक' प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है। इस ऋत के पालन से ही यह अपनी सब इन्द्रियों को बड़ा प्रशस्त बना पाता है और 'गोतम' कहलाता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहता है कि—हे प्रभो! **ते**=तेरी **या**=जिन **धामानि**=दीप्तियों (Lustre) व शक्तियों (power) को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज्=सङ्गतीकरण) **ता**=उन **ते**=तेरी **विश्वा**=सब दीप्तियों व शक्तियों को **यज्ञम्**=मेरे ये श्रेष्ठतम कर्म **परिभूः अस्तु**=व्याप्त करनेवाले हों, अर्थात् मैं यज्ञमय जीवन बिताता हुआ आपकी शक्तियों व दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

२. इन्हीं दीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करने के लिए यह 'गोतम' सोम से प्रार्थना करता है कि—(क) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गयस्फानः**=(गयाः प्राणाः, स्फाय् वृद्धौ) हमारी प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाली है। (ख) **प्रतरणः**=तेरे सुरक्षित होने पर हम सब रोगादि आपदाओं को तैरनेवाले होते हैं। (ग) **सुवीरः**=तेरा रक्षक उत्तम वीर बनता है। (घ) **अवीरहा**=हे सोम! तू वीरों को नष्ट न होने देनेवाला है। तू वीरों का परिपालक है। वीर तेरी रक्षा करते हैं तू वीरों की। ३. हे सोम! तू **दुर्यान्**=हमारे घरों में **प्रचर**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाला हो। हम सोमशक्ति-सम्पन्न हों। सोमशक्ति की रक्षा से हम प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाले, विघ्नों को तैरनेवाले व वीर बनेंगे। वीर बनकर हम 'अवीरहा'=यज्ञाग्नि को नष्ट न होने देनेवाले होंगे। (वीरहा=यज्ञाग्नि को नष्ट करनेवाला)। यज्ञशील बनकर हम यज्ञरूप प्रभु के सच्चे उपासक होंगे। उस समय उस प्रभु की दिव्यता का हममें भी अवतरण होगा और हम प्रभु की दीप्ति व शक्ति से चमकेंगे।

भावार्थ—हम यज्ञों से प्रभु के धाम को प्राप्त करें। यज्ञशील हम सोम की रक्षा करके बनेंगे।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः सम्पूर्णः॥